दीपकके सम्मुख अंधार । भागते जाता जैसे सत्वर ।
नहीं आते निषिद्ध आचार । इन्द्रियोंके सम्मुख ॥ २१० ॥

अजी ! वर्षा-ऋतुमें जैसे । नदियां उमडती वैसे ।
फैल जाती है बुद्धि वैसे । सब शास्त्रोंमें ॥ ११ ॥

जैसे पूर्णमासीका दिवस । चांदनीसे भरता आकाश ।
शास्त्रमें फैलती तत्सदृश । वृत्ति सदैव ॥ १२ ॥

एकत्र होती वासना । प्रवृत्तिका संयमन ।
विषयों परसे मन । हठ जाता है ॥ १३ ॥

जब सत्व बढता । यह चिन्ह दीखता ।
यदि निधन होता । ऐसे समय ॥ १४ ॥

जैसे है घरकी संपत्ति । वैसे औदार्य धैर्य-वृत्ति ।
तब इह परमें कीर्ति । क्यों न फैलेगी ॥ १५ ॥

अथवा आया है अति सुकाल । चला संतर्पण अति-मंगल ।
अतिथि आप्त आया उसी पल । कहना क्या तब ॥ १६ ॥

इससे क्या है तब सुंदर । वैसे सत्वमें जाना शरीर ।
सत्व-स्वभावको छोड और । जायेगा कहां ॥ १७ ॥

सत्व-गुणमें जो उद्भट । तज सत्व-गुण श्रेष्ठ ।
चलता है छोडके कोपट । भोग-क्षम जो ॥ १८ ॥

अकस्मात जो ऐसा मरता । सत्वका ही नया बनता ।
या ज्ञानियोंमें जन्म लेता । यह निश्चय ॥ १९ ॥

कह तू यह धनुर्धर । राजा राजत्वमें डोंगर ।
चढता है तब अपूरा । होता है क्या ॥ २२० ॥

अथवा यहांका जो दिया । पडोसके गांवमें गया ।
वहां पर क्या धनंजय । न रहता दीप ॥ २१ ॥

वैसी यह सत्व-शुध्दि । होती ज्ञान सह वृध्दि ।
तैरने लगती बुध्दि । विवेक पर ॥ २२ ॥

महदादिककी परंपरा । विचार कर तदनंतर ।
विलीन हो जाते स-विचार । उसके उदरमें ॥ २३ ॥

छत्तीसमें सैंतीसवां । चोवीसमें पच्चीसवां ।
तीनों पर स्वभाव । चौदह जिसका ॥ २४ ॥

ऐसा सर्व जो सर्वोत्तम । होता है जिसको सुगम ।
ऐसे कुलमें निरुपम । मिलता है देह ॥ २५ ॥

रजोगुणीका स्वभाव-धर्म—

इसी भांति है तू देख । सत्व तम अधोमुख ।
तथा होता ऊर्ध्व-मुख । जब रजोगुण ॥ २६ ॥

तब वह अपने कार्यका पार्थ । शरीर-ग्राममें है धूम मचाता ।
देहमें तब लक्षणोंका करता । उदय ऐसा ॥ २७ ॥

अजी ! फैला हुवा बवंडर । करता है वस्तुओंका ढेर ।
वैसे होता विषयोंका ठौर । वह देह ॥ २८ ॥

प्रसंग जैसे पर-दारादिकका । न सोचता शास्त्र-विरुद्ध होनेका ।
इंद्रियोंको देता चारा विषयोंका । भेडोंके समान ॥ २९ ॥

यहां तक होता इनका लोभ । स्वैर वृत्तिका रहता सदा रोब ।
लूटनेमें अशक्य जो अलाभ । इन लोगोंका ॥ २३० ॥

आता जब उद्यमका प्रसंग । नहीं लेता है कभी पीछे पग ।
बढाती है प्रवृत्ति पग-पग । अपनी सदैव ॥ ३१ ॥

या खडा करना कोई प्रासाद । या करना है यज्ञ-अश्वमेध ।
ऐसे होते मनमें बडे छंद । उसके सदैव ॥ ३२ ॥

नगरोंको रचाना । जलाशय बांधना ।
महावन लगाना । नानाविध ॥ ३३ ॥

ऐसे ऐसे महान कर्म । समारोहोंका उपक्रम ।
इस परके सभी काम- । भोग करना मेरे ॥ ३४ ॥

महा-सागर भी खायेगा मात । अग्नि भी होगा पूरा पराजत ।
बढती है इतनी असीमित । अभिलाषा उसकी ॥ ३५ ॥

आशा जो बढती जाती । मनके आगे दौडती ।
विश्वको भी जो गिनती । पद-तलमें ॥ ३६ ॥

बढता है रज जब । दीखते ये चिन्ह सब ।
शरीर पडता तब । यदि इसका ॥ ३७ ॥

यह सब होते जहां । वह जन्मता है वहां ।
किंतु होती योनि वहां । मनुष्यकी ही ॥ ३८ ॥

यदि कोई एक भिक्षुक । राज-गृहमें बैठा देख ।
उससे वह राजा एक । बनेगा क्या ॥ ३९ ॥

बैलको जोतकर गाडीमें । ले गये धनीके बारातमें ।
इससे चूकेगा क्या गोठेमें । खाना घास ॥ २४० ॥

इसीलिये व्यापारमें दिन रात । जुते रहते जो अविश्रांत ।
ऐसे कुलमें उसे निश्चित । मिलता जन्म ॥ ४१ ॥

जन्मता है कर्म-जडोंमें । अथवा ऐसे ही देहमें ।
जहां रजोत्कर्ष-गर्तमें । डूबता वह ॥ ४२ ॥

तमो-गुणीका स्वभाव-धर्म—

और अर्जुन उसी भांति । जहां रज-सत्वकी वृत्ति ।
निगलकर हो उन्नति । तमोगुणकी ॥ ४३ ॥

कहते हम लक्षण । अंतर्बाह्य तन-मन ।
कहता सुन अर्जुन । ध्यान देकर ॥ ४४ ॥

उसका होता ऐसा मन । जैसे सूर्य-चन्द्र विहीन ।
होता है रातका गगन । अमावसका ॥ ४५ ॥

ऐसा उसका अंतःकरण । सदैव स्फूर्ति-हीन विरान ।
विचारका स्पर्श भी अर्जुन । नहीं होता ॥ ४६ ॥

पत्थरको हराती जड़ता । मृदुता वह नहीं जानता ।
स्मरण-शक्तिका अता-पता । नहीं होता उसको ॥ ४७ ॥

अविवेक उसका साज । अंतर्बाह्य मौढ्यका बाज ।
लेन-देन होता सहज । मूर्खताका ॥ ४८ ॥

आचार-हीनता असंगल । दबोचती उसको प्रबल ।
मृत्यु-तक उसका चंगुल । कसता जाता ॥ ४९ ॥

कहता हूं और एक लक्षण । दुष्टतामें चित्त विलक्षण ।
जैसे काली रातमें सुलक्षण । देखता उल्लू ॥ २५० ॥

निषिद्ध-कर्मके नामसे । खिल जाता तन-मनसे ।
दौडती अनिर्बंध जैसे । इंद्रियां सारी ॥ ५१ ॥

बिन मदिराके वह झूमता । बिन सन्निपातके बकता ।
बिन प्रेमके वह भूलता । पागल जैसे ॥ ५२ ॥

रहता नहीं उसका चित्त । किंतु उन्नति नहीं निश्चित ।
भ्रम-वश हुवा है उन्मत्त । तमो-गुणी वह ॥ ५३ ॥

या इन गुणोंकी होती । जहां संपूर्ण प्रतीति ।
जानो तमकी उन्नति । हुई सांग ॥ ५४ ॥

और ऐसे ही प्रसंग । तजता है यदि अंग ।
लेके यही गुण संग । जन्मता वह ॥ ५५ ॥

राईपन अपने बीजमें । छोड जाती है राई अंतमें ।
अंकुरेगा राईके रूपमें । राईपन जैसे ॥ ५६ ॥

तज कर अग्नि जब दीप । बुझता यदि अपने आप ।
जैसे जहां लगा वह दीप । आग ही आग ॥ ५७ ॥

ऐसे तमो गुणके साथ । संकल्प बांधकर पार्थ ।
बुझती है जीवन जोत । जन्मती तम-रूप ॥ ५८ ॥

इससे अधिक क्या कहना । तम-वृध्दिमें देह तजना ।
पशु-पक्षी कृमि हो जन्मना । या उगना हो पेड ॥ ५९ ॥

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६ ॥

तीनों गुणोंका परिणाम—

श्रुतिका यह निरूपण । बन जाता है सत्व-गुण ।
सुकृत-कर्मका कारण । धनुर्धर ॥ २६० ॥

इसीलिये है निर्मल । सुकृतका जो सरल ।
देता सुख ज्ञान फल । सात्विक ॥ ६१ ॥

फिर है जो रजकी प्रक्रिया । इंद्रवणिका फल पकाया ।
सुख चितार अंतमें दिया । दुःख अपार ॥ ६२ ॥

अथवा जैसे निंबोणीका फल । बाहर मृदु अंदर गरल ।
वैसे होते राजस-क्रिया-फल । यहां अर्जुन ॥ ६३ ॥

जैसे है विषका अंकुर । देता विष फल आखर ।
वैसे है रूप भयंकर । फलता तम ॥ ६४ ॥

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवत्तोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥

इसीलिये हे अर्जुन । सत्वका हेतु है ज्ञान ।
जैसे मानो दिनमान । होता सूर्यका ॥ ६५ ॥

तथा वैसे ही यह जान । लोभका है रज कारण ।
जैसे स्वरूप विस्तरण । जीव-दशाका ॥ ६६ ॥

मोह अज्ञान प्रमाद । यहां है ये दोष-वृन्द ।
आगे जो बढता प्रबुद्ध । तमका मूल ॥ ६७ ॥

फल सात्विक कर्मोंका पुण्य निर्मल है कहा ।
रजका फल है दुःख तमका ज्ञान-शून्यता ॥ १६ ॥
सत्वसे फैलता ज्ञान रजसे जान लालसा ।
प्रमाद मोह अज्ञान होते हैं तमके गुण ॥ १७ ॥

ऐसे विचारोंके नयन । तीनों गुण करके भिन्न ।
दिखाते हैं जान अर्जुन । करतलामलकसा ॥ ६८ ॥

रज-तम हैं ये दोनों गुण । होते हैं पतनके कारण ।
सत्व बिन अन्य नहीं जान । पहुंचाते ज्ञानके पास ॥ ६९ ॥

इसीलिये सात्विक-वृत्ति । स्वीकार व्रत जन्म-वृत्ति ।
सर्व त्याग करके भक्ति । करते जान ॥ २७० ॥

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥ १८ ॥

गुण-बद्धोंके स्थान—

जिनमें होता सत्वका उत्कर्ष । जीते मरते उसीमें सहर्ष ।
तन त्याग वे पाते सत्पुरुष । स्वर्गका राज ॥ ७१ ॥

ऐसे ही रजमें जो रहते । उसीमें जीते तथा मरते ।
वे मनुष्य होके जन्मते । मृत्यु-लोकमें ॥ ७२ ॥

सुख दुःखकी खिचडी जिसमें । रवानी पड़ती एक ही थालीमें ।
फंसते हैं जो मरण-चक्रमें । कभी नहीं छूटते ॥ ७३ ॥

तथा तनमें जो उसी भांति । जीते मरते हैं उसी स्थिति ।
पाते हैं नरक अधोगति । प्राप्ति-पत्र ॥ ७४ ॥

इस भांति जो वस्तु-सत्ता । त्रिगुणको कैसे प्रभावित ।
करती है कारण सहित । कहा मैंने ॥ ७५ ॥

वस्तु होती है वस्तुत्वमें । किंतु आप गुण-रूपमें ।
देख गुणके स्वभावमें । बरतती है ॥ ७६ ॥

राजा देखता जैसे स्वप्नमें । घिरा है राज-पर-चक्रमें ।
जीतता हारता अपनेमें । आप ही एक ॥ ७७ ॥

सत्वस्थ चढते ऊंच मध्यमें व्यक्ति राजस ।
अधःपतित होते हैं तामसी हीन वृत्तिके ॥ १८ ॥

वैसे मध्य ऊर्ध्व अध । ये जो गुण-वृत्ति भेद ।
दृष्टि तज दी तो शुद्ध । वस्तु आप ॥ ७८ ॥

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ १९ ॥

गुण-निस्तारका विवेचन—

रहने दे अब यह विषय । कहने दे पीछेका जो विषय ।
इसे विषयांतर धनंजय । नहीं मान तू ॥ ७९ ॥

मानो यह तीन जो गुण । अपने सामर्थ्यसे जान ।
होते जैसे देह अर्जुन । गुण ही आप ॥ २८० ॥

जैसे ईंधनका आधार । अग्नि होता है धनुर्धर ।
या उगता है तरुवर । भूमिका रस ॥ ८१ ॥

या दधि-घृतके रूपमें जैसे । होता है केवल दूध ही वैसे ।
या लेता है ईखका रस जैसे । गूडका रूप ॥ ८२ ॥

ऐसे हैं ये सांतःकरण । देह बनते तीन गुण ।
तभी होते बंध-कारण । धनंजय ॥ ८३ ॥

किंतु आश्चर्य धनुर्धर । यह बंधका जो गुब्बार ।
मुक्त दशामें संसार । कभी नहीं ॥ ८४ ॥

यदि गुण ये अपने धर्मानुसार । होते हैं शरीरके आगे पीछे स्वैर ।
आत्माके गुणातीतावस्थामें अंतर । नहीं आता ॥ ८५ ॥

ऐसी मुक्ति होती है सहज । तुझको कहता हूं मैं आज ।
स्वभावसे तू ज्ञान-पुंज । भ्रमर अर्जुन ॥ ८६ ॥

चैतन्य होता है गुणमें । न होता गुणके पाशमे ।
कहा यह त्रयोदशमें । मैंने तुझको ॥ ८७ ॥

गुणोंको तजके कर्ता आत्मा जो उस पार है ।
देखता जानता ऐसा होता मेरा स्वरूप सो ॥ १९ ॥

जिस समय अंत:करणमें । प्रतीत हो ज्ञान बोध-रूपमें ।
तब जैसे जागृत अवस्थामें । होता स्वप्न-भंग ॥ ८८ ॥

या जब तरंग उठते । उसे तटसे हैं देखते ।
बिंबके अंग-भंग होते । उसी प्रकार ॥ ८९ ॥

नट जैसे नहीं फंसता । अपने स्वांगको जानता ।
वैसे ही गुणोंको देखता । साक्षी-रूप ॥ २९० ॥

अथवा ऋतु-त्रयमें आकाश । ऋतुओंको देकर अवकाश ।
अलिप्तता रखता अविनाश । अपनी जैसे ॥ ९१ ॥

वैसे गुणमें गुणसे पर । अपने मूल-रूपमें स्थिर ।
होता अहंतापे अहंकार । उस समय ॥ ९२ ॥

वहांसे जब वह देखता । कहता मैं हूं साक्षी अकर्ता ।
क्रियाओंका नियोजन कर्ता । केवल हैं गुण ॥ ९३ ॥

तीन गुणोंका है जो प्रकार । दीखता कर्मका हो विस्तार ।
वह है गुणोंका विकार । धनंजय ॥ ९४ ॥

इसमें रहता हूं मैं ऐसा । वनमें वसंत ऋतु जैसा ।
वन-लक्ष्मीका विलास जैसा । कारण-रूप ॥ ९५ ॥

अथवा तारागणका लोपना । सूर्यकांतका उद्दीपन होना ।
तथा कमलोंका खिलना । या जाना तनका ॥ ९६ ॥

यहां किसी भी काममें कहीं । सविता उलझता नहीं ।
वैसे अकर्ता होता है देही । सत्ता-रूप ॥ ९७ ॥

गुण-प्रकाश कर गुण-दर्शन । होता है मुझमें गुणत्वका पोषण ।
गुणत्रयका होकर जो निरसन । रहता वह मैं हूं ॥ ९८ ॥

ऐसे विवेकका जो उदय । होता है जिसका धनंजय ।
उसे मिलता पथ विजय । गुणातीतका ॥ ९९ ॥

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

गुण-निस्तारसे मोक्ष प्राप्त होता है—

निर्गुण ऐसा और जो पार्थ । रहता है उसको निश्चित।
जानता वह उसमें नित । बसता ज्ञान ॥ ३०० ॥

अथवा मानो पांडुसुता । पाता है वह मेरी सत्ता ।
जिस भांति पाती सरिता । सिंधुत्व जैसे ॥ १ ॥

नलिका परसे उड़कर । बसता है शुक डालपर ।
वैसे वह मूल अहंकार । ओढता है सो ॥ २ ॥

अज्ञानकी नींद जो सोया था । जोरसे खुर्राटे भरता था ।
पाकर वह स्वरूपावस्था । उठता अर्जुन ॥ ३ ॥

बुद्धि-भेदका जब दर्पण । हाथसे छूटके गिरा जान ।
तब स्व-मुखाभास दर्शन । होगा कैसे ॥ ४ ॥

देहाभिमानका पवन जब रुकता । चित्तासिंधु पर तरंग नहीं उठता ।
तरंग-सिंधुका तब जैसे ऐक्य होता । वैसे जीवेशका ॥ ५ ॥

वर्षातमें गगनमें जैसे । लय होते हैं बादल वैसे ।
पूर्ण होता वह मद्भावसे । पांडुकुमार ॥ ६ ॥

ऐसे वह मद्रूप कर प्राप्त । शरीरमें रहता है सतत ।
नहीं होता है त्रिगुणमें लिप्त । देह-संभूत जो ॥ ७ ॥

अजी ! कांचका घर जो होता । प्रकाशको रोक न सकता ।
या वडवानल न बुझता । सिंधु-जलसे ॥ ८ ॥

वैसे ही अवागमन जो गुणोंका । बोध नहीं मिटा सकता उसका ।
जैसे चंद्र होता जलमें व्योमका । वैसे देहमें रहता वह ॥ ९ ॥

देह कारण ये तीन गुण जो तरता इन्हे ।
जन्म-मृत्यु जरा दुःख तरके मोक्ष जीतता ॥ २० ॥

शरीरमें करते हैं तीनों गुण । अपने सामर्थ्यका घोर नर्तन ।
न भेजता वह करने दर्शन । अपनी अहंताको ॥ ३१० ॥

हृदयमें ऐसा वह धनंजय । रहता है करके दृढ निश्चय ।
शरीरमें करते क्या गुण-त्रय । यह न जानता वह ॥ ११ ॥

तज कर अंगका खोल । सर्प घुस बैठा पाताल ।
त्वचाका करेगा संभाल । कौन बाहर ॥ १२ ॥

अथवा पक्व सौरभ जैसा । लय होता आकाशमें वैसा ।
न आता कभी कमल-कोश । लौटकर जो ॥ १३ ॥

हुवा स्व-रूप समरससे । उसकी जीव-दशा भी वैसे ।
रहा शरीर-धर्म भी कैसे । जानता नहीं ॥ १४ ॥

तभी जन्म जरा मरण । इत्यादि जो छ हैं लक्षण ।
रहे ये देहके कारण । इसकी वार्ता नहीं ॥ १५ ॥

घट ही जब टूट गया । खपरा भी है फेंका गया ।
महदाकाशमें हो लिया । घटाकाश ॥ १६ ॥

देहका भाव जब मिटता । निजका ही स्मरण रहता ।
तब कहो अन्य क्या रहता । उसके बिन ॥ १७ ॥

ऐसा जो श्रेष्ठ बोध-युक्त । देहमें रहता सतत ।
तभी मैं उसे गुणातीत । कहता अर्जुन ॥ १८ ॥

श्रीकृष्णके सुन ये बोल । तुष्ट हुवा पार्थ निर्मल ।
गरजने पर बादल । मोर होता जैसे ॥ १९ ॥

अर्जुन उवाच
कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥ २१ ॥

अर्जुनने कहा
त्रिगुणातीतके देव कह लक्षण तू मुझे ।
आचार उसके कैसे कैसे निस्तरता गुण ॥ २१ ॥

अर्जुनकी जिज्ञासा, गुणातीत कैसे होता है?—

उसी तोषसे पूछता अर्जुन । दीखते उसके क्या लक्षण ।
जिसमें बसता है ऐसा ज्ञान । कह तू श्रीहरि ॥ ३२० ॥

उसका होता कैसा आचरण । करता कैसे गुण-निस्तरण ।
कृपाका तू नैहर श्री कृष्ण । यह कह कृपाकर ॥ २१ ॥

अर्जुनका सुन यह प्रश्न । षड्गुणैश्वर्य-युत श्रीकृष्ण ।
उत्तर देता है कृपा-पूर्ण । सुनिये अब ॥ २२ ॥

विचित्र है तेरी यह बात । पूछता तू प्रश्न विसंगत ।
यह सत्य कैसे असत् पार्थ । ऐसा यह प्रश्न ॥ २३ ॥

जिसका नाम गुणातीत । नहीं होता गुण-संयुत ।
होता भी यदि गुण-युत । मुक्त रहता वह ॥ २४ ॥

कृष्ण प्रश्नका वास्तविक रूप समझाता है —

किंतु गुणमें है उलझता । तब गुणाधीन वह होता ।
अथवा गुण मुक्त रहता । जानना कैसे ॥ २५ ॥

ऐसा है यदि तेरा प्रश्न । पूछ तू सुखसे अर्जुन ।
करता हूं समाधान । तेरे संदेहका ॥ २६ ॥

भगवान उवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
नद्वेष्टिसंप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥ २२ ॥

णोंके कल्लोलमें वह निर्लिप्त रहता है—

जब रजोगुणका मद । देहमें लाता कर्म साध ।
प्रवृत्ति लेती है उसे बांध । कर्माकुरसे ॥ २७ ॥

[भगवानने कहा

प्रकाश मोह उद्योग गुण-कार्य स्वाभाविक ।
पानेसे न करे खेद न धरे चाह लोपसे ॥ २२ ॥

तब कर्म-जन्य अभिमान । नहीं आता उसमें अर्जुन ।
या कर्म रह जानेसे मन । खिन्न नहीं होता ॥ २८ ॥

या सत्व होता है जब अधिक । इंद्रियां होती हैं ज्ञान प्रकाशक ।
तब न होता सु-विधाका तोष । या अविधाका खेद ॥ २९ ॥

अथवा बढ़ता है जब तम । तब न ग्रासता मोह या भ्रम ।
या नहीं होता अज्ञानका श्रम । या न करे स्वीकार ॥ ३० ॥

आता जब मोहका अवसर । नहीं चाहता ज्ञान धनुर्धर ।
या ज्ञानसे कर्म-स्वीकार कर । न होता दुःखी ॥ ३१ ॥

प्रातः माध्यान्ह सायंकाल । गणना करके त्रिकाल ।
न तपता सूर्य निर्मल । वैसे वह रहता ॥ ३२ ॥

उसको भिन्न क्या प्रकाश । ज्ञानसे मिलाता है शेष ।
नहीं सुखाती अनावर्षा । जैसे सागरको ॥ ३३ ॥

या करनेसे कर्म-प्रवर्तन । नहीं होगा कर्मका अभिमान ।
कहो कहींसे होगा क्या कंपन । हिमालयको ॥ ३४ ॥

होनेसे मोहका आगमन । भूल जायेगा क्या वह ज्ञान ।
घामसे जलेगा क्या अर्जुन । प्रलयाग्नि कभी ॥ ३५ ॥

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥ २३ ॥

गुणोंके जालमें निर्लिप्त और निष्कंप रहता है—

गुण और गुणका कार्य । आप है पूर्ण धनंजय ।
तभी है एकेकका कार्य । न डिगाता उसे ॥ ३६ ॥

करके ऐसी प्रतीति । देहमें मैंने की वसति ।
जैसे राहमें कोई पंथी । मान लेके ॥ ३७ ॥

रहे जैसे उदासीन गुणोंसे जो न कांपता ।
जानके उनका खेल न डिगे लेश-मात्र भी ॥ २३ ॥

न जिताता या न हराता । स्वयं जीतता या हारता ।
न गुण होता या कराता । जैसा रण-रंग ॥ ३८ ॥

अथवा शरीर-गत प्राण । घरमें आतिथ्यका ब्राह्मण ।
या चौराहेपे खडा जो स्थाणु । वैसा उदास ॥ ३९ ॥

तथा गुणोंका आवागमन । उसको नहीं कंपाता जान ।
मृग-जलोर्मियोंसे अर्जुन । नहीं कांपता मेरू ॥ ३४० ॥

इससे अधिक क्या बोलना । वायूसे गगनका हिलना ।
तमका सूर्यको निगलना । इसी भांति ॥ ४१ ॥

स्वप्न जैसा नहीं मोहता । जगता जो उसको पार्थ ।
वैसे उसे नहीं बांधता । गुणका जाल ॥ ४२ ॥

गुणमें वह नहीं फंसता । दूरसे वह है देखता ।
गुण-दोषकी नृत्य-कथा । साक्षी जैसा ॥ ४३ ॥

सात्विक करता सत्कर्म । रज करता रजो कर्म ।
भ्रम-आलस्यादिमें तम । करता कार्य ॥ ४४ ॥

सुन तू उसकी है सत्ता । होती गुण-क्रिया समस्त ।
जैसे सम्मुख हो सविता । लौकिकका ॥ ४५ ॥

समुद्र जैसे उमड आता । सोमकांत मणि पसीजता ।
अथवा है कुमुद खिलता । चंद्रिकासे ॥ ४६ ॥

या पवन बहता रुकता । गगन जैसे निश्चल रहता ।
वैसे गुणोंका हलचल होता । वह होता निश्चल ॥ ४७ ॥

ये हैं उसके लक्षण । गुणातीतके तू जान ।
कहता हूं आचरण । उसका मैं ॥ ४८ ॥

समदुःखसुखःस्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ २४ ॥

शांत जो स्तुति निंदामें धीर जो सुख दुःखमें ।
प्रियाप्रिय जिसे तुल्य स्वर्ण पाषाण मृत्तिका ॥ २४ ॥

गुणातीतकी सम-वृत्ति—

कपडेके अंदर बाहर । होता है तंतू ही धनुर्धर ।
वैसे देखता है चराचर । विश्वमें मद्रूप ॥ ४९ ॥

रिपु भक्तमें जैसे समान । रहता है परमात्मा जान ।
वैसे ही सुख दुःख अर्जुन । एकसे उसको ॥ ३५० ॥

वैसे भी स्वाभाविक । भोगना सुख दुःख ।
देह-रूप उदक । पाता मीन ॥ ५१ ॥

अब उसने वह छोड़ दिया । अपना स्व-स्वरूप जान लिया ।
जैसे भूससे दाना चुन लिया । खेतीहरने ॥ ५२ ॥

अथवा ओघ छोडकर गांग । बन गया समुद्रका ही अंग ।
भूलकर अपना लगवग । कलकल ध्वनि ॥ ५३ ॥

हो गयी जब उसकी निश्चित । आत्म-रूपमें वसति सतत ।
देहमें तब उसको समस्त । एकसे सुख दुःख ॥ ५४ ॥

रात-दिवस समान । मानता स्तंब अर्जुन ।
आत्म रत होता तन । द्वंद्व वैसे ॥ ५५ ॥

जैसे नींदमें रत शरीर । अप्सरा अथवा अजगर ।
एक मानता है धनुर्धर । वैसे देहके द्वंद्व ॥ ५६ ॥

देखता उसका मन । सुवर्ण रत्न पाषाण ।
सदैव एक समान । बिना भेदके ॥ ५७ ॥

घरमें उतर आता स्वर्ग । अथवा ऊपर आता बाघ ।
न होता आत्म-बुध्दिका भंग । उसका कभी ॥ ५८ ॥

जैसे मृत न होता जागृत । या भूना बीज न अंकुरित ।
वैसी होती है बुध्दि आत्मस्थ । सदा अभंग ॥ ५९ ॥

ब्रह्म है तू ऐसा स्तवन । या निंदा करो नीच मान ।
जलने बुझनेका ज्ञान । नहीं जानती राख ॥ ३६० ॥

वैसे निंदा अथवा स्तवन । जानता नहीं वह अर्जुन ।
तम और प्रकाशका ज्ञान । न होता सूर्यको ॥ ६१ ॥

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ २५ ॥

ईश्वर-बुध्दिसे किया पूजन । या चोर मानके किया ताडन ।
वृष-गजसे किया दलन । या दिया राज ॥ ६२ ॥

जैसे पास आये आप्त-मित्र । या घिर आये शत्रु-सर्वत्र ।
किंतु न जानता सूर्य रात्र । अथवा दिवस ॥ ६३ ॥

सभी ऋतुमें जैसे गगन । निर्लिप्त रहता है अर्जुन ।
ऐसा वैषम्य रहित मन । होता उसका ॥ ६४ ॥

वैसे ही उसका एक आचार । कहता हूं तुझे पांडुकुमार ।
नहीं होता कभी कोई व्यापार । वहां प्रारंभ ॥ ६५ ॥

सर्वारंभ वहां समाप्त । प्रवृत्तिका होता है अस्त ।
जले हैं कर्म–फल पार्थ । सभी वहां ॥ ६६ ॥

दृष्यादृष्य भोगकी पार्थ । नहीं होती चाह जागृत ।
प्रारब्धसे होता जो प्राप्त । पाता वह सहज ॥ ६७ ॥

सुख या दुखमें जैसे । पाषाण रहता वैसे ।
त्याग-स्वीकार मनसे । मिट गया है ॥ ६८ ॥

कितना करना विस्तार । जिसका है ऐसा आचार ।
उसे मान तू धनुर्धर । गुणातीत ॥ ६९ ॥

गुणोंका अतिक्रमण । करनेका क्या साधन ।
कहता वह श्रीकृष्ण । सुनिये अब ॥ ३७० ॥

मानापमानमें जैसे समान शत्रु-मित्रमें ।
गुणातीत वही मान आरंभ जिसने तजा ॥ २५ ॥

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २६ ॥

गुण-निस्तारका साधन—

ऐसे जो अव्यभिचार चित्त । भक्ति-योगरत हो सतत ।
मेरा सेवन करता पार्थ । लांघता गुण ॥ ७१ ॥

अव्यभिचारी भक्तिका विवेचन—

तब कौन हूं मैं कैसी भक्ति । अव्यभिचारकी अभिव्यक्ति ।
होना उसकी पूर्ण निश्चिति । अत्यावश्यक ॥ ७२ ॥

तब तू सुन अर्जुन । यहां है मेरा क्या स्थान ।
रत्नमें तेज जो रत्न । वैसा हूं मैं ॥ ७३ ॥

या द्रवणवत है नीर । या अवकाश है अंबर ।
या मिठास ही है शक्कर । नहीं भिन्न ॥ ७४ ॥

या अग्नि ही है ज्वाल । दल ही है कमल ।
वृक्ष जो वही डाल । फलादिक ॥ ७५ ॥

हिम होता जो संघटित । कहलाता वह हिमवंत ।
या जामन लगा दूध पार्थ । कहलाता दही ॥ ७६ ॥

यहां विश्व है जो अर्जुन । स्वयं मैं हूं वह संपूर्ण ।
चंद्र-बिंबका तरासना । न होता वैसे ॥ ७७ ॥

अजी ! जमा हुवा घृत । जमकर भी रहता घृत ।
या कंकण रूपमें भी पार्थ । होता सोना ही ॥ ७८ ॥

न उधड कर भी वस्त्र । स्पष्ट ही रहता सूत्र ।
जैसे न तोडके भी पात्र । रहती मृतिका ॥ ७९ ॥

जो एक-निष्ठ भक्तीसे करता मम सेवन ।
लांघके गुणको सारे पाता ब्रह्मत्व है वह ॥ २६ ॥

इसलिये विश्वत्वका निवारण । कर फिर करना मेरा ग्रहण ।
ऐसा नहीं जान तू यह संपूर्ण । विश्व-सह मैं हूं ॥ ३८० ॥

इस प्रकार जो मुझको जानना । उसको अव्यभिचारी भक्ति कहना ।
विश्वमें औ' मुझमें भेद देखना । व्यभिचारी भक्ति ॥ ८१ ॥

इसलिये भेद तज पार्थ । तथा करके अभेद-चित्त ।
जानना है अपने सहित । मुझको सदैव ॥ ८२ ॥

सोनेपे जैसे सुवर्ण । जडा जाता है अर्जुन ।
वैसे अपनेसे भिन्न । न मानना मुझे ॥ ८३ ॥

तेजसे जो होता उत्पन्न । तेजोमय होता किरण ।
तेजसे होता है अभिन्न । ऐसा होना बोध ॥ ८४ ॥

भूतलमें जैसे परमाणु । हिमाचलमें है हिम-कण ।
वैसे मुझमें कर अर्पण । अपनेको तू ॥ ८५ ॥

तरंग होता छोटा अर्जुन । किंतु न होता सिंधुसे भिन्न ।
वैसे ईश्वरसे नहीं भिन्न । कुछ भी यहां ॥ ८६ ॥

इसी भांति समरस । दृष्टि रख स-उल्लास ।
भक्तिका वह निवास । कहते हम ॥ ८७ ॥

ज्ञान और योगका समन्वय, अद्वय-दृष्टि—

तथा ज्ञानकी भी अर्जुन । सही दृष्टि यह है जान ।
तथा योगका है संपूर्ण । सार भी यही ॥ ८८ ॥

सिंधुसे जैसे जल-धर । लेते हैं अखंड जो धार ।
वैसी वृत्ति पांडुकुमार । बनती तन्मय ॥ ८९ ॥

जैसे कूप मुखका आकाश । सांधा न जाता महाकाश ।
होता है वैसे परम-रस । ऐक्य-रूप ॥ ३९० ॥

प्रति-बिंब तक बिंबसे । प्रभा-ज्योति होती है जैसे ।
सोऽहम् वृत्ति होती है वैसे । धनंजय ॥ ९१ ॥

ऐसे ही फिर परस्पर । सोऽहम् वृत्तिका अवतार ।
वह भी मिटती फिर । अपने आप ॥ ९२ ॥

जैसे नूनका एक कण । समुद्रमें पिघला जान ।
गलना भी फिर अर्जुन । भूलता जैसे ॥ ९३ ॥

अथवा जलाकर तृण । बुझ जाता है अग्नि-कण ।
भेद-नाशका वैसे ज्ञान । मिटता आप ॥ ९४ ॥

रहता हूं मैं उस पार । भक्त रहता इस पार ।
यह दोनों ही मिटकर । रहता अनादि ऐक्य ॥ ९५ ॥

गुणोंको है वह लांघता । यह भी अब न रहता ।
न रहती एक वाक्यता । एकत्वकी भी ॥ ९६ ॥

इसीको ब्रह्मत्व कहते हैं जो मेरी एक-निष्ठ भक्तिसे मिलता है—

यह जो है ऐसी स्थिति । ब्रह्मत्व है कहलाती ।
मेरी अव्यभिचारी भक्ति । देती है यह ॥ ९७ ॥

तथा ऐसे लक्षण-युक्त । जगतमें मेरा जो भक्त ।
ब्रह्मत्व उससे संयुक्त । पतिव्रता जैसे ॥ ९८ ॥

पानी जो गंगामें बहता । सिंधुसे निश्चित मिलता ।
इसमें नहीं है अन्यथा । उसी भांति ॥ ९९ ॥

ज्ञान-दृष्टिसे जो अर्जुन । करता है मेरा सेवन ।
होता है वह जुडा रत्न । ब्रह्म-पदका ॥ ४०० ॥

ऐसे ब्रह्म-पदका पार्थ । सायुज्य ऐसी व्यवस्था ।
उसीका नाम है चौथा । पुरुषार्थ जो ॥ १ ॥

किंतु मेरा यह आराधन । होता है ब्रह्मत्वका सोपान ।
इससे मैं इसका साधन । मानेगा तू ॥ २ ॥

यदि ऐसा है तेरा मन । करता कल्पना अर्जुन ।
भी है अन्य मेरे बिन । कोई ब्रह्म ॥ ३ ॥
लांघके गुण ।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ २७ ॥

सबका मूल आधार मैं हूं—

ब्रह्म नामका आधार । मैं हूं यहां धनुर्धर ।
औ' अन्य शब्दका सार । वह भी मैं हूं ॥ ४ ॥

जैसा मंडल औ' चंद्रमा । अभेद होते हैं जान मर्म ।
वैसे ही मैं और है ब्रह्म । एक-रूप ॥ ५ ॥

तथा नित्य जो निष्कंप । अनावृत्त धर्मरूप ।
सुख-रूप जो अमाप । अद्वितीय ॥ ६ ॥

विवेक अपना काम । करके मिलता धाम ।
निष्कर्षका है निःसीम । वह भी मैं हूं ॥ ७ ॥

विजय गया अब दूर—

अजी ! कीजीये यह श्रवण । अनन्य भक्त-प्रिय श्रीकृष्ण ।
करता है पार्थसे कथन । कहता संजय ॥ ८ ॥

धृतराष्ट्र कहता यह सुन । तुझसे यह पूछता है कौन ।
बिन पूछे ही व्यर्थका भाषण । करता क्यों तू ? ॥ ९ ॥

विजयकी वार्ता तू कहकर । हमारी व्यग्रता दूर कर ।
कहता है "विजय गया दूर" । संजय मनमें ॥ ४१० ॥

संजय है मनमें विस्मित । वैसे ही है अतिशय त्रस्त ।
किस भांति यह द्वेश-रत । श्रीकृष्णसे है ॥ ११ ॥

फिर भी वह कृपालु हो तुष्ट । इन्हे करें आत्म-विवेक पुष्ट ।
जिससे हो इनका रोग नष्ट । महा-मोहका ॥ १२ ॥

आधार ब्रह्मका मैं हूं वैसे ही अमृतत्वका ।
शाश्वत धर्मका भी मैं तथा निस्सीम सुखका ॥ २७ ॥

करता है संजय ऐसा चिंतन । तथा करता संवादका श्रवण ।
जिससे उमडकर आता मन । हर्षातिरेकसे ॥ १३ ॥

ऐसा हो वह उत्साहित । अब श्रीकृष्णार्जुनकी बात ।
कहेगा तो देकर चित्त । सुनियेगा ॥ १४ ॥

उन अक्षरोंका जो है भाव । पहुंचाऊंगा आपके ठांव ।
कहता सुनिये ज्ञानदेव । निवृत्तिका दास ॥ १५ ॥

गीता श्लोक २७

ज्ञानेश्वरी ओवी ४१५.

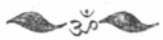

लांघके गु०.

१५

पुरुषोत्तम–दर्शनयोग

श्रीसद्गुरुकी मानस-पूजा—

अपना यह अंतःकरण । बना करके श्रीसिंहासन ।
उस पर रखेंगे चरण । श्रीगुरुके ॥ १ ॥
ऐक्य भावकी अंजली । इंद्रिय-कमल-कली ।
भरकर पुष्पांजली । देंगे अर्घ्य ॥ २ ॥
अनन्यता-उदक शुद्ध । संस्कार निष्ठाका सु-सिद्ध ।
लगावें अनामिका गंध । चंदन-तिलक ॥ ३ ॥
स्वर्णिम प्रेमके नूपुर । श्रीचरणमें सुकुमार
चढायें समर्पित कर । विशुद्धतासे ॥ ४ ॥
अनन्यतासे जो है दृढ । अव्यभिचारका निचोड़ ।
बनाके चरणोंके जोड़ । चढ़ायेंगे ॥ ५ ॥
आनंद-मोद बहुल । सात्विकताके मुकुल ।
खिले हुए अष्ट-दल । चढायें पदपे ॥ ६ ॥
जलायें अहंका धूप । उतारें नाहंका दीप ।
समरस होके आप । मिले निरंतर ॥ ७ ॥
बनाके मेरे तन औ' प्राण । चढाऊं पादुका श्रीचरण ।
करूं भोग-मोक्षका निंब-लोण । उन चरणों पर ॥ ८ ॥
इन गुरु-चरणोंकी सेवा । देती सकल पुरुषार्थ मेवा ।
प्राप्त हो हम वह सुदैव । ऐसा करें हम ॥ ९ ॥

देता अंतिम-विश्रांति-स्थान । वहां तक खिलता जो ज्ञान ।
बनाता सुधा-सिंधु महान । वाचाका वह ॥ १० ॥
असंख्य पूर्ण-सुधाकर । करें जिसपे न्योच्छावर ।
होता है वक्तृत्व मधुर । जिस दैवसे ॥ ११ ॥
सूर्य उदय जो पूर्व-दिशा । देती है जगतको प्रकाश ।
करती दीवाली ज्ञान-दशा । वैसे श्रोताओंकी ॥ १२ ॥
जिससे स्फुरता है व्याख्यान । लगता नाद-ब्रह्म भी बौना ।
मोक्ष-धाम भी है शोभा-हीन । उसके सम्मुख ॥ १३ ॥
मंडपमें श्रवण सुखके । जगतको वसंत ऋतुके ।
सुख मिले व्याख्यान-वल्लीके । ऐसा बहार आता ॥ १४ ॥
नहीं लगनेसे जिसकी थाह । लौटती है वाचा मनके सह ।
उसके शब्दमें आता है वह । कितना आश्चर्य ॥ १५ ॥
ज्ञान जिसे नहीं जानता । ध्यानमें भी जो नहीं आता ।
वह है अगोचर रमता । उसकी गोष्ठियोंमें ॥ १६ ॥
इतना बड़ा जो सौभग । बनता है वाचाका अंग ।
गुरु-पद-पद्म-पराग । प्राप्त होता ॥ १७ ॥
ऐसा यह भाग्य है नहीं । मेरे बिन अन्यको कहीं ।
कहता है आपसे यहीं । ज्ञानदेव ॥ १८ ॥
रहा हूं अबोध बालक । श्रीगुरुका इकलौता एक ।
इसी लिए कृपा स्वाभाविक । मिली मुझको मात्र ॥ १९ ॥
मेघमाला जैसे संपूर्ण । देती है चातकको प्राण ।
मेरे लिए गुरु-चरण । बने वैसे ॥ २० ॥
तभी मेरा रीता ही मुख । करने लगा बकबक ।
किंतु निकला स्वाभाविक । गीता तत्व मधुर ॥ २१ ॥
होता है जब दैव अनुकूल । रेती बनते मोति अनमोल ।
[illegible] भी बन जाते हैं सकल । ऐश्वर्य सह मित्र ॥ २२ ॥
लांघके गुण

चुल्हेपर चढाये हुए हरल । पक जाते अमृतसे चावल ।
भूखेका रखना यदि काल । जगन्नाथको ॥ २३ ॥

ऐसे ही जिसे श्रीगुरुवर । करते हैं जब अंगीकार ।
बन जाता है सारा संसार । मोक्षधाम ॥ २४ ॥

देखो कैसे नारायण । पांडवोंके अवगुण ।
बना देते हैं पुराण । विश्व-वंद्य ॥ २५ ॥

ऐसे श्री निवृत्तिराज । मुझ अज्ञानिमें आज ।
लाते हैं ज्ञानका ओज । स्व-कृपासे ॥ २६ ॥

रहने दे यह गुरु-गुण वर्णन । वर्णनसे होती है महिमा मलीन ।
गुरुवर्णनका मुझमें कहां ज्ञान । इसीलिए ॥ २७ ॥

उनकी कृपासे सदय । कहते गीता साभिप्राय ।
धोता हूं मैं आपके पूज्य । अब श्री चरण ॥ २८ ॥

करता चौदहका अंत । कह कर यह सिद्धांत ।
अर्जुनसे श्री भगवंत । कैवल्य पति जो ॥ २९ ॥

ज्ञानी ज्ञानसे मोक्ष पाता है—

करता जो ज्ञान हस्तगत । मोक्ष पाता है वही समर्थ ।
होता इंद्रपद हस्तगत । जैसे शत-मखसे ॥ ३० ॥

अथवा लेकर शत जन्म । करता सतत ब्रह्म-कर्म ।
वही बनता अंतमें ब्रह्म । अन्य नहीं कोई ॥ ३१ ॥

या करता है सूर्य दर्शन । केवल मात्र एक नयन ।
वैसे केवल ज्ञानसे मान । मोक्ष प्राप्त ॥ ३२ ॥

ऐसे ज्ञान के लिए कौन । होता यहां सामर्थ्यवान ।
खो जानेसे हुवा दर्शन । अकेलेका ॥ ३३ ॥

पातालमें भी जो है निधान । दिखाएगा लगाके अंजन ।
इसके लिए होना लोचन । पादजके ही ॥ ३४ ॥

वैसे ही मोक्ष देगा ज्ञान । यहां बात नहीं भिन्न ।
इसके लिए होना मन । परम-शुद्ध ॥ ३५ ॥

ज्ञानके लिए वैराग्य आवश्यक—

तब विरक्तिके बिन । टिकता नहीं ज्ञान ।
निर्णय है यह जान । हरि चित्तका ॥ ३६ ॥

विरक्तिका कौनसा प्रकार । करेगा मनका अंगीकार ।
कर रखा यह भी विचार । सर्वज्ञ हरिने ॥ ३७ ॥

यह है विष मिश्रित अन्न । अतिथिको हो इसका ज्ञान ।
छोड़ उठता वह भोजन । इसी भांति ॥ ३८ ॥

अनित्य यह सब संसार । जानता है जो इसका सार ।
वह करता विरक्ति दूर । तो भी वह चिपकती ॥ ३९ ॥

पंद्रहवे अध्यायकी भूमिका—

अनिश्चितताका रूप निश्चित । वृक्ष-रूपकसे है जगन्नाथ ।
सुनायेंगे सुने सब यथार्थ । पंद्रहवेंमें ॥ ४० ॥

सहज पडा जो हो उन्मूलन । डाली जड़ उलट कर जान ।
सूखेगा वह जैसे क्षण क्षण । वैसे नहीं यह ॥ ४१ ॥

मिटाते हैं ऐसा दिखाकर । रूपकका भला चमत्कार ।
जन्म-मरणका जो चक्कर । संसारका ॥ ४२ ॥

दिखाके संसारका अनित्यत्व । स्वरूपमें अहंताका लयत्व ।
कहा जायेगा अब सार-तत्व । पंद्रहवेंमें ॥ ४३ ॥

अब यहीं ग्रंथ हृद्‌गत । कहेंगे सिद्धांत विस्तृत ।
सुने आप देकर चित्त । श्रोतृ-वृंद ॥ ४४ ॥

वह ब्रह्मानंद समुद्र । जो पूर्ण-पूर्णिमाका चंद्र ।
तथा द्वारकाका नरेंद्र । कहता ऐसा ॥ ४५ ॥

अजी ! सुन तू पांडुकुमार । आते हुए स्वरूपके घर ।
रुकावट करता समीर । विश्वाभासका ॥ ४६ ॥

वह जो जगडंबर । नहीं है यहां संसार ।
ज्ञान महा तरुवर । पड़ा है यहां ॥ ४७ ॥

लांघके गुण

किंतु अन्य वृक्ष सरीखा । नीचे मूल ऊपर शाखा ।
ऐसे नहीं जान इसका । अंत न लगता ॥ ४८ ॥

आग अथवा यदि कुठार । पड़ती जिसके मूल पर ।
वह पड़ता है टूटकर । कितना ही बड़ा हो ॥ ४९ ॥

मूल सब जब वृक्ष टूटता । शाखाओं सह वह है गिरता ।
किंतु इसका ऐसा नहीं होता । यह न है सहज ॥ ५० ॥

संसार वृक्षकी कल्पना—

इसका है अर्जुन ! कौतुक । कहनेमें यह अलौकिक ।
बढ़ता जाता है अधोमुख । यह वृक्ष ॥ ५१ ॥

जैसे सूर्यकी ऊंची नहीं जानता । उसका रश्मि-जाल नीचे फैलता ।
वैसे ही यह है आश्चर्य दिखाता । संसार-वृक्ष ॥ ५२ ॥

जैसे कल्पांतका उदक । फैलता है आकाश तक ।
वैसे यह संसार रूख । घेरता सर्वस्व ॥ ५३ ॥

अथवा होता रविका अस्त । तमसे घिरती सारी रात ।
यह वृक्ष ऐसा होता व्याप्त । आकाश सारा ॥ ५४ ॥

खाना चाहे तो नहीं फलता । सूंघना चाहे तो नहीं फूलता ।
जैसे हो यह वृक्ष रहता । केवल वृक्ष ॥ ५५ ॥

मूल जमा है इसका ऊपर । शाखयें फैली हैं नीचेकी ओर ।
किंतु नहीं पड़ा टूटकर । रहता खिला हुवा ॥ ५६ ॥

तथा ऊर्ध्व-मूल ऐसे । कहा है स्पष्ट रूपसे ।
किंतु फैलते नीचेसे । इसकी जड़ ॥ ५७ ॥

बढनेमें है जैसे शेवाल । ऊपर वट हो या पीपल ।
अंकुरमें फूटते हैं डाल । इसके सब ॥ ५८ ॥

इस भांति सुनो पार्थ । संसार-वृक्षके साथ ।
नीचे ही है डाल पात । ऐसे भी नहीं ॥ ५९ ॥

वैसे ही ऊर्ध्वकी ओर । शाखाओंके ढेर ढेर ।
दिखाई देते अपार । फैले हुए ॥ ६० ॥

या फैला हो वृक्ष रूपसे गगन । या वृक्ष रूपसे वायु-प्रसरण ।
या अवस्था-त्रयका विस्तार मान । हुवा वृक्ष रूपसे ॥ ६१ ॥

ऐसा है यह ऊर्ध्व-मूल । फैला है सर्वत्र बहुल ।
विश्वाकार लेके सकल । जान तू यह ॥ ६२ ॥

अब है इसका ऊर्ध्व-भाग कौन । इसके ऊर्ध्व-मूलके क्या कारण ।
इसके अधो-वृध्दिके क्या लक्षण । औ' डालियां हैं कैसी ॥ ६३ ॥

अथवा इस वृक्षकी । जड कैसी है नीचेकी ।
डालियाँ कैसी ऊर्ध्वकी । सुनो अब ॥ ६४ ॥

तथा यह अश्वत्थ है ऐसे । प्रसिध्दिके कारण क्या कैसे ।
आत्म-विद्या-विदोंने है ऐसे । किया क्यों निर्णय ॥ ६५ ॥

यह सब तू अर्जुन । अनुभवेगा जो ज्ञान ।
ऐसे करूंगा कथन । सुन तू अब ॥ ६६ ॥

तेरा ही यह है सौभाग्य । इसके लिए है तू योग्य ।
आया है सुन यह भाग्य । सर्वांगके कान कर ॥ ६७ ॥

प्रेम-रसका ऐसे हो स्फुरण । यदु-पति बोला जब श्रीकृष्ण ।
प्रकट हुवा तब अवधान । अर्जुनके रूपमें ॥ ६८ ॥

अति व्यापक जो कृष्ण-कथन । किंतु फैला पार्थका अवधान ।
जैसे घेरती दिशायें महान । आकाशको जैसे ॥ ६९ ॥

अजी ! श्रीकृष्ण वचन सागर । प्राशन करता है धनुर्धर ।
मानो है अगस्ति ऋषि दूसरा । एक घोंटमें ॥ ७० ॥

फूट पडी ऐसी श्रवणाशा निर्मल । पार्थमें प्रतीत कर कृष्ण सरल ।
करता है देव वह सुख सकल । न्योच्छावर पार्थपे ॥ ७१ ॥

भगवान उवाच

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसियस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १ ॥

ऊर्ध्व-मूल ब्रह्मका वर्णन—

फिर कहता है पांडव । इस तरुका है जो ऊर्ध्व ।
वृक्षके कारण सदैव । दीखता सहज ॥ ७२ ॥

वैसे मध्य ऊर्ध्व अध । ऐसा नहीं जहां भेद ।
कहते हो एकवद । उस अद्वयका ॥ ७३ ॥

वह है अश्रवणीय नाद । तथा असौरभ्य मकरंद ।
तथा जो निरालंब आनंद । बिना रतिका ॥ ७४ ॥

जिसको जो आर-पार । तथा आगे-पीछेकी ओर ।
दृश्यादृश्यसे अगोचर । देखना है ॥ ७५ ॥

उपाधिका जो दूसरा । फैलानेसे है पसारा ।
नाम-रूपका संसार । होता जहां ॥ ७६ ॥

ज्ञाता ज्ञेयसे विहीन । केवल मात्र जो ज्ञान ।
सुखसे भरे गगन- । से चूता है ॥ ७७ ॥

नहीं है जो कार्य अथवा कारण । या अन्यसे आया जो अकेलापन ।
जिसको अपनेमें ही आप जान । भली भांति ॥ ७८ ॥

संसार-वृक्षका बीज और जड़—

ऐसी सत्य-वस्तु जिसकी । जड़ है ऊपर इसकी ।
वहांसे निकली इसकी । कोंपल ऐसे ॥ ७९ ॥

श्री भगवानने कहा

ऊंचे मूल तले शाख नित्य अश्वत्थ है कहा ।
उसके दलमें वेद पढे जो वेद जानता ॥ १ ॥

भगवान उवाच

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसियस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १ ॥

ऊर्ध्व-मूल ब्रह्मका वर्णन—

फिर कहता है पांडव । इस तरुका है जो ऊर्ध्व ।
वृक्षके कारण सदैव । दीखता सहज ॥ ७२ ॥

वैसे मध्य ऊर्ध्व अध । ऐसा नहीं जहां भेद ।
कहते हो एकवद । उस अद्वयका ॥ ७३ ॥

वह है अश्रवणीय नाद । तथा असौरभ्य मकरंद ।
तथा जो निरालंब आनंद । बिना रतिका ॥ ७४ ॥

जिसको जो आर-पार । तथा आगे-पीछेकी ओर ।
दृश्यादृश्यसे अगोचर । देखना है ॥ ७५ ॥

उपाधिका जो दूसरा । फैलानेसे है पसारा ।
नाम-रूपका संसार । होता जहां ॥ ७६ ॥

ज्ञाता ज्ञेयसे विहीन । केवल मात्र जो ज्ञान ।
सुखसे भरे गगन- । से चूता है ॥ ७७ ॥

नहीं है जो कार्य अथवा कारण । या अन्यसे आया जो अकेलापन ।
जिसको अपनेमें ही आप जान । भली भांति ॥ ७८ ॥

संसार-वृक्षका बीज और जड़—

ऐसी सत्य-वस्तु जिसकी । जड़ है ऊपर इसकी ।
वहांसे निकली इसकी । कोंपल ऐसे ॥ ७९ ॥

श्री भगवानने कहा

ऊंचे मूल तले शाख नित्य अश्वत्थ है कहा ।
उसके दलमें वेद पढे जो वेद जानता ॥ १ ॥

ऐसा भव-द्रुमका मूल । ऊपर पाकरके बल।
उसके हैं दलके दल । उतरते नीचे ॥ ९३ ॥

संसार-वृक्षका पहला पल्लव—

वहां चिद्वृत्तिके पहला । महतत्व कोंपल खिला ।
पल्लव जो हरा निकला । कोंपल एक ॥ ९४ ॥

पिर सत्व-रज-तमात्मक । त्रिविध अहंकार जो एक ।
वह तिगुना हो अधोमुख । फूटी डाल ॥ ९५ ॥

बुध्दिका लेकर अंकुर । बढ़ाता भेदको अपार ।
तन मनकी डाल सुंदर । बढ़ने लगती ॥ ९६ ॥

ऐसे ले कर मूलकी दृढता । विकल्प रसकी जो कोमलता ।
चित्त-चतुष्टयकी विविधता । फूटते पल्लव ॥ ९७ ॥

भवद्रुमका विस्तार—

आकाश वायु द्योतक । और है पृथ्वी उदक ।
फूटती ये पांच शाख । उसमें जोरसे ॥ ९८ ॥

वैसे ही श्रोत्रादि तन्मात्रा । उसके अंगभूत पत्र ।
जो हैं अति चित्र विचित्र । फूटते रहते ॥ ९९ ॥

तब शब्दांकुर पर्यंत । होते हैं श्रोत्र विकसित ।
आकांक्षाके नूतन पार्थ । चढती डालियां ॥ १०० ॥

अंग-त्वचाका जो लता पल्लव । स्पर्शांकुर तक होते फैलाव ।
वहां बढते हैं नित नव । विकार विविध ॥ १ ॥

तब रूप-पत्रके दलके दल । दूर तक फैलाती हैं आंखें सरल ।
फैलता है तब बड़ा भ्रम-जाल । सविस्तृत ॥ २ ॥

और रसनाका शाखा खंड । वेगसे बढता है उद्दंड ।
जिव्हा चापल्यके जो प्रचंड । फूटते शाख ॥ ३ ॥

वैसे ही गंधकी जो कोंपल । घ्राणेंद्रियको करती प्रबल ।
तब गंध-लोभ फैलाता विपुल । आनंद पल्लव ॥ ४ ॥

ऐसी जो महदहं-बुध्दि । मन महाभूत संसृध्दि ।
इस संसारकी अवधि । बना लेते हैं ॥ ५ ॥

भव-द्रुमका स्वरूप—

अजी ! यह इन्ही आठ अंगसे । फैलता जाता है अति वेगसे ।
किंतु है रजत-रूपसे जैसे । दीखती सीप ॥ ६ ॥

या सागरका जितना विस्तार । उतना ही तरंगत्व संचार ।
वैसे है ब्रह्म ही वृक्ष-आकार । अज्ञान मूल ॥ ७ ॥

यही अब इसका विस्तार । और इसका है यही प्रसार ।
स्वप्नमें अपना परिवार । होता जैसे एकका ही ॥ ८ ॥

रहने दो अब यह वर्णन । इस भांति यह बढ़ता जान ।
महदादि बोझसे है अर्जुन । अधोशाख ॥ ९ ॥

इसको अश्वत्थ क्यों कहते हैं—

इसको अश्वत्थ ऐसे । कहते हैं जो क्यों कैसे ।
वह भी सुन तू इसे । कहता हूं मैं ॥ ११० ॥

अजी ! श्वः कहा तो कल । तब तक प्रति पल ।
रहना नहीं निश्चल । इसका कभी ॥ ११ ॥

जैसे है बीतता है क्षण । मेघ बदलता नाना वर्ण ।
या बिजली न होती संपूर्ण । निमिष एक ॥ १२ ॥

या कांपता हुवा पद्म-दल । उस पर पड़ा हुवा जल ।
या चित्त जैसे होता व्याकुल । मनुष्यका ॥ १३ ॥

वैसे ही है इसकी स्थिति । नासता जाता क्षण प्रति ।
इसीलिये है शुद्ध-मति । कहते अश्वत्थ ॥ १४ ॥

तथा अश्वत्थ ऐसी संज्ञा । पीपलको पड़ी सुविज्ञा ।
नहीं वह भाव सर्वज्ञ -। श्रीहरिका यहां ॥ १५ ॥

वैसे पीपल कहा तो एक । मैंने मान लिया होता देख ।
किंतु रहने दे जो लौकिक । इसमें क्या अर्थ ॥ १६ ॥

इसीलिये यहां प्रस्तुत । यह है अलौकिक ग्रथ ।
यहां क्षणिकत्वको अश्वत्थ । कहा गया है ॥ १७ ॥

यह और ही है एक विध । अव्ययत्वमें अति प्रसिद्ध ।
इसका प्रकार अंतर्सिद्ध । है इस भांति ॥ १८ ॥

जैसे मेघ-मुख एक ओर । सुखाते रहते हैं सागर ।
तथा नदियां दूसरी ओर । भरती रहती ॥ १९ ॥

जिससे न चढता न उतरता । सदा एकसा भरा पूरा रहता ।
किंतु जब तक सम योग होता । मेघ-नदियोंका ॥ १२० ॥

वैसे इस वृक्षका होता जान । उस गतिका तर्क नहीं होना ।
तभी लोगोंका अव्यय कहना । इसको यथार्थ ॥ २१ ॥

जैसे दान-शील मनुष्य । करता दानसे संचय ।
वैसे व्ययसे है अव्यय । यह वृक्ष ॥ २२ ॥

अथवा रथका चक्र जैसे । चलता अतिशय वेगसे ।
दीखता भूमिमें धंसा ऐसे । उसी प्रकार ॥ २३ ॥

वैसे ही तीव्र गतिसे कालकी । गिरती भूत शाखामें जिसकी ।
वहां फूटती असंख्य इसकी । कोंपल नित्य ॥ २४ ॥

ऐसे गलते जाते कितने । नये फूटते जाते कितने ।
न जाने आते जाते कितने । सावनके बादलसे ॥ २५ ॥

कल्पांतमें होते नष्ट भ्रष्ट । कल्पारंभमें होते हैं जो सृष्ट ।
और होते हैं अनेक विश्व-द्रष्ट । धनंजय ॥ २६ ॥

प्रचंड संहार-वातसे प्रलयके । झड़ते छिलके जब इस वृक्षके ।
फूटते नव-अंकुर कर्मारंभके । करोडोंमें ॥ २७ ॥

मन्वंतर सरकता मनुके नंतर । बढते जाते अनेक वंश वंश पर ।
मानो बढता है ईख कांड कांड कर । वैसे ही यह वृक्ष ॥ २८ ॥

कलियुगांतमें सूखा छिलका । चार युगोंका झड़ता इसका ।
तब चढ़ता है कृत-युगका । नूतन मोटा ॥ २९ ॥

जैसे वर्ष पर वर्ष बीतता । एक दूसरेका मूल बनता।
वैसे दिवस आता और जाता । जानते नहीं ॥ १३० ॥

जैसे वायुकी लहर आना । उसका जोड़ नहीं समझना।
वैसे डालोंका झड़ना बढना । समझता नहीं ॥ ३१ ॥

गिरता जब एक देहांकुर । फूटते सहस्र शरीरांकुर ।
तब दीखता भव तरुवर । अव्यय ऐसा ॥ ३२ ॥

पानी बहता जब तीव्र गतिसे । वैसे ही आता है अधिक पीछेसे।
तभी उस स्रोतको अनंत ऐसे । मानते लोग ॥ ३३ ॥

या जितनेमें पलक झपकती । करोडो लहरें उठ गिरती।
जिससे है दृष्टि अनुभवती । तरंग है नित्य ॥ ३४ ॥

या एक ही दृष्टि काग दोंनों ओर। फिराता चातुर्यसे स अवसर।
जिससे होता है भ्रम धनुर्धर । कागकी हैं दो आंखें ॥ ३५ ॥

लट्टू घूमता है तीव्र गतिसे । लगता है चिपक बैठा भूमिसे।
इसका वेगातिशय होता वैसे । भ्रमका कारण ॥ ३६ ॥

अंधारमें अति वेगसे । अग्नि-काष्टको घुमानेसे।
सहज ही दीखता जैसे । चक्राकार ॥ ३७ ॥

यह संसार-वृक्ष ऐसा । नासता बढता सहसा।
न देख लोक पागल-सा । मानता अव्यय ॥ ३८ ॥

किंतु जो इसका वेग देखता । इसके क्षणिकत्वको देखता।
करोडों बार यह होता जाता । क्षण भरमें जो ॥ ३९ ॥

अज्ञानके बिन नहीं मूल । इसका अस्तित्व नकल।
यह वृक्ष अति क्षीण-छाल । देखा जिसने ॥ १४० ॥

उसे मानता मैं सर्वज्ञ । वह है वंदनीय प्राज्ञ।
ब्रह्म-सिद्धांतका है सूज्ञ । धनुर्धर ॥ ४१ ॥

योग-मात्र जो सकल । मिला है उसको ही फल।
उसके बलसे केवल । जीता ज्ञान ॥ ४२ ॥

कौन करें उसका वर्णन । भव-द्रुमको अनित्य मान ।
चलता है पुरुष अर्जुन । इस भांति ॥ ४३ ॥

अधश्चोर्ध्वं प्रस्तृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥

इस भव-द्रुमका फैलाव—

फिर यह प्रपंच रूप । अधः शाखा जो पादप ।
बढता जाता परंतप । ऊर्ध्वशाख हो ॥ ४४ ॥

तथा नीचे फैले जो डाल । उसमें फूटते हैं मूल ।
उस मूलमें फूटे वेल । पल्लवादिक ॥ ४५ ॥

अजी ! हमने पीछे ऐसे । उपक्रममें कहा जैसे ।
उसीको सहज रूपसे । कहते अब ॥ ४६ ॥

बद्धमूल है जो अज्ञानसे । महदादिकके शासनसे ।
बडे वेद-पर्ण फूटनेसे । फैला है अपार ॥ ४७ ॥

पहले इससे स्वेदज । जारज उद्भिज मणिज ।
मूलसे ही जो महाभुज । उठते चार ॥ ४८ ॥

इस एकेकसे अंकुर । फूटके अनेक प्रकार ।
जीवोंकी शाख बढ़ाकर । होते चौरासी लाख ॥ ४९ ॥

बढ़ते हैं खंड सरल । नाना सृष्टिकी डाल डाल ।
टेडी मेडी फूटती डाल । अनेक जातिकी ॥ १५० ॥

ऊंचे तले शाख विस्तार होता
औ' भोग पत्ते गुण-पुष्ठ होते ।
नये नये मूल फूले तले जो
नृलोकमें कर्म-निबन्द कारी ॥ २ ॥

स्त्री पुरुष नपुंसक । आकारसे भेदात्मक ।
टकराते हैं आंगिक । विकार भारसे ॥ ५१ ॥

वर्षाकाल है जैसे गगनमें । फैलता नव मेघके रूपमें ।
वैसे आकार-मात्र अज्ञानमें । फैलता जाता ॥ ५२ ॥

शाखाओंका है फिर अंगभार । झुकके उलझता परस्पर ।
और-गुण क्षोभका है समीर । छूटता तब ॥ ५३ ॥

ऊर्ध्वमूलका फट जाना—

आता है तब भयंकर । गुण क्षोभका बवंडर ।
जिससे तीन स्थान पर । फटता ऊर्ध्वमूल ॥ ५४ ॥

जब ऐसा रजका समीर । बहता है जब धनुर्धर ।
मनुष्य जाति शाखा अपार । बढती हैं ॥ ५५ ॥

न ऊर्ध्व या अधमें उसके । मध्यमें लगती हैं तनेके ।
टेडी शाख फूटते उसके । वर्णकी चार ॥ ५६ ॥

विधि-निषेधके सपल्लव । वेद-वाक्यके जो अभिनव ।
डुलकर उसके पल्लव । करते शोभा ॥ ५७ ॥

ऐहिक भोगके नामवंत । अर्थ-काम कर प्रसारित ।
बढ़ते हैं तीव्र विकसित । नव अंकुरोंसे ॥ ५८ ॥

संसारका जो वृद्धि लोभ । खडा करता शुभाशुभ ।
अनेकानेक कर्म-स्तंब । न जाने कितने ॥ ५९ ॥

पहलेका भोग-क्षय जब होता । साथ ही शुष्क देह जब गिरता ।
तथा विस्तारका प्रारंभ होता । नव देहका तब ॥ १६० ॥

तथा सुशोभित शब्दादिक । सहज रंगके आकर्षक ।
फूटते नित नये मोहक । विषय पल्लव ॥ ६१ ॥

वैसे रजो-वातसे प्रचंड । मनुष्य शाखाओंके झुंड ।
बढते, कहते जिसे रूढ़ । मानव लोक ॥ ६२ ॥

वैसे रजका समीर । रुकते ही बहता घोर ।
तमोगुणका बवंडर । उसी समय ॥ ६३ ॥

तभी यही मनुष्य शाख । नीचे नीचे वासना देख ।
फैलती है शाखोपशाख । कुकर्मकी जो ॥ ६४ ॥

अप्रवृत्तिसे जो चिन्हित । निकलते डंटल पार्थ ।
उसमें लगते हैं सार्थ । प्रमादके ॥ ६५ ॥

बोलते निषेध-नियम । मंत्र जो हैं ऋक्-यजु-साम ।
गाते वही पात अकर्म । सम्मुख आके ॥ ६६ ॥

प्रतिपादन अभिचार । मंत्र-तंत्र जो पर-मार ।
करते उसका प्रसार । वासना लता ॥ ६७ ॥

तब तब होते बलिष्ठ । अकर्मादि जड़ अनिष्ट ।
तथा बड़ते शाख पुष्ट । जन्मकी आगे ॥ ६८ ॥

चांडालादि वहां निकृष्ट । दोष-योनिके दंड पुष्ट ।
फैलाता जन कर्म-भ्रष्ट । जाल भ्रमका ॥ ६९ ॥

उसे पशु-पक्षी सूकर । व्याघ्र वृश्चिकादि विषार ।
टेडे शाखाओंका विस्तार । होता है जैसे ॥ १७० ॥

ऐसी जो शाखायें पांडव । सर्वांगमें नित्य ही नव नव ।
देती हैं नरकानुभव । फलका तो ॥ ७१ ॥

हिंसा रति वहां प्रमुख । कुकर्म-संघ ही है सुख ।
निषिद्ध कर्माकुर चोख । बढते जन्मोंसे ॥ ७२ ॥

ऐसे होते हैं तरु-तृण । लोह लोष्ट औ' पाषाण ।
इस शाखके ऐसे जान । लगते फल ॥ ७३ ॥

अर्जुन ! यह तू सुन । मनुष्यसे जो है निम्न ।
वृद्धि स्थिर तक जान । शाखाओंकी ॥ ७४ ॥

तभी मनुष्य-रूपी डाल । तलेकी शाखाओंका मूल ।
आगे फैलता वही मूल । संसार-तरुका ॥ ७५ ॥

वैसे ऊर्ध्वका जो पार्थ । आदि मूल देखा जाता ।
आदिसे ये हैं मध्यस्थ । शाखायें सब ॥ ७६ ॥

किंतु तामस सात्विक । सुकृत दुष्कृतात्मक ।
फैल जाती हैं जो शाख । अध-ऊर्ध्वकी ॥ ७७ ॥

तथा वेद-त्रयके हैं पान । अन्यत्र न लगते अर्जुन ।
मनुष्य बिन अन्य विधान । नहीं उसका ॥ ७८ ॥

इसलिये मनुष्यका तन । ऊर्ध्व-मूलकी शाखा है मान ।
इस कर्म-वृद्धिके कारण । वही मूल ॥ ७९ ॥

फैलती शाखायें जब वृक्षोंमें । जड़ जाती हैं गहरी पृथ्वीमें ।
जड़ गडी जाती हैं जैसे पृथ्वीमें । वृक्ष फैलता ऊपर ॥ १८० ॥

उसी भांति है यह शरीर । कर्मके साथ देह संसार ।
देह है तब तक व्यापर । चलता रहता ॥ ८१ ॥

तब है मनुष्य देह पार्थ । इसकी जड़ कहना सार्थ ।
यहां यह बोलना यथार्थ । श्रीकृष्णका जो ॥ ८२ ॥

फिर है तमका दारुण । रुक जाता जब तूफान ।
सत्वका छूटता सत्राण । चंड मारुत ॥ ८३ ॥

उस समय यह मनुष्याकार । जड़में छूटता सुगंध अंकुर ।
उसमें फूटते मुकुल अपार । नव नव कोंपल ॥ ८४ ॥

विकसित ज्ञानके कारण । प्रज्ञा-कुशलताके जो तीक्ष्ण ।
अंकुर फूटते प्रति-क्षण । फैलते हुए ॥ ८५ ॥

बुध्दिके शाखोपशाख । स्फूर्तिसे बलसे नेक ।
प्रकाशसे सविवेक । खिलते हैं ॥ ८६ ॥

मेधा-रससे वहां भरपूर । आस्था-पल्लवसे खिले सुंदर ।
सरल निकलते हैं अंकुर । सद्वृत्तिके ॥ ८७ ॥

सदाचारके तब अनेक । कोमल कोंपल सुवासिक ।
गूंजते हैं सदा वेद घोष । उन पल्लवोंसे ॥ ८८ ॥

शिष्ट आगम विधान । विविध याग वितान ।
ऐसे पल्लव अर्जुन । बढ़ते जाते ॥ ८९ ॥

अनेक गुच्छ ऐसे यम-दमके । लगते हैं जब तप टहनीके ।
तथा आलिंगन करते उसके । वैराग्यकी टहनियां ॥ १९० ॥

विशिष्ट व्रतोंकी जो शाख । तीक्ष्ण धैर्यांकुरमें देख ।
जन्म-वेगसे ऊर्ध्वमुख । उठते जाते ॥ ९१ ॥

करते पल्लव वेद–गर्जन । सद्विद्याओंका घोष महान ।
जब बहता है वायु अर्जुन । सात्विकताका ॥ ९२ ॥

अन्य अनेक ऊर्ध्व शाखाओंका विवेचन—

वहां धर्म-शाखाओंमें विस्तृत । जन्म-शाखा जो सरल दर्शित ।
उसमें स्वर्गादिक फलयुक्त । शाखा फैलती अनेक ॥ ९३ ॥

फिर उपरति रक्त-वर्ण । उसमें शाखा नित नवीन ।
बढती लहराके अर्जुन । धर्म मोक्षकी ॥ ९४ ॥

फिर रवि-चंद्रादि ग्रह-वर । पितर ऋषि आदि विद्याधर ।
फूटती नाना शाखा चहूं ओर । विस्तार पूर्वक ॥ ९५ ॥

इससे भी ऊंचाई पर । इंद्रादि शाख श्रेष्ठतर ।
फलादिसे जो भर कर । बढती अनेक ॥ ९६ ॥

इसके ऊपर भी है शाख । तप-ज्ञानसे बढी है देख ।
अत्रि मरीचि कश्यपादिक । ऊर्ध्व हैं अति ॥ ९७ ॥

उत्तरोत्तर उस प्रकार । ऊर्ध्व-शाखाओंका है प्रसार ।
छोटे मूलमें बड़ा अपार । फलता जाता ॥ ९८ ॥

ऊर्ध्व-शाखाओंके अग्रपर । आता फल भार धनुर्धर ।
ब्रह्मेश जैसे महा अंकुर । फूटते नुकीले ॥ ९९ ॥

फूलोंके अति भारसे । झुकता है ऊपरसे ।
तथा लगता मूलसे । जैसे हो मूलमें ॥ २०० ॥

वैसे भी प्रकृत जो रूख । फल-भारसे लदी शाख ।
झुककर आती है देख । जडके पास ॥ १ ॥

जहांसे इसका विस्तार । प्रारंभ हुआ धनुर्धर ।
मिलता है वही आकार । ज्ञान-योगमें ॥ २ ॥

इसीलिये सुन ब्रह्मेशके । वाद बढ़ना नहीं जीवके ।
वहांसे ऊपर है जिसके । ब्रह्मही केवल ॥ ३ ॥

इस भांति धनंजया । ब्रह्मादिक टहनियां ।
अर्ध्व-मूल जो है माया । उससे नहीं तुलती ॥ ४ ॥

और भी ऊपर जो शाख । जिसके नाम सनकादिक ।
फल-मूलमें न आती देख । भरी है ब्रह्ममें ॥ ५ ॥

ऐसे मनुष्यसे जानना पार्थ । ऊर्ध्वमें हैं जो ब्रह्मादिक पात ।
बढ़ जाती इसकी शाखा-जात । सविस्तर ऊंची ॥ ६ ॥

ऊर्ध्वके हैं जो ब्रह्मादि । मनुष्य उसके आदि ।
इसीलिये कहा आदि । मूल इसके ॥ ७ ॥

ऐसा तुझे अलौकिक । दिखाया है ऊर्ध्व शाख ।
कह यह भव रूख । ऊर्ध्वमूल ॥ ८ ॥

संसार वृक्ष उन्मूलन कैसे करना—

तथा आदिका भी है जो मूल । उत्पत्ति सह कहा सकल ।
अब सुनो करना उन्मूल । कैसे यह ॥ ९ ॥

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलम्
असङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ ३ ॥

न रूप इसका दीखे किसीको
न मूल है या न तना न शाखा ।
विरक्तिका ले कर तीव्र शस्त्र
काटें इसे जो दृढ-मूल वृक्ष ॥ ३ ॥

किंतु यहां अर्जुन । सोचेगा तेरा मन ।
काटनेका साधन । क्या है इसका ॥ २१० ॥

अंत तक है ब्रह्मका । ऊर्ध्व शाखायें उसका ।
औ' अरूपमें जिसका । ऊर्ध्व मूल ॥ ११ ॥

स्थावरादिसे इसका तल । फैलाता जाता अनेक डाल ।
फिर दौड़ते दूसरे मूल । मनुष्य रूपमें ॥ १२ ॥

ऐसा गहरा और विस्तृत । कौन करेगा इसका अंत ।
ऐसा नहीं लाना क्षुद्र बात । अपने मनमें ॥ १३ ॥

इसको उखाडना कौनसी बात । इसमें आयास नहीं किंचित ।
वध्योंको करने क्या भय-मुक्त । दूर भगाना क्या हौवेको ॥ १४ ॥

गंधर्व नगरोंको क्या गिराना । खरहेके सींगोंको क्या तोडना ।
यदि होता है उसे तोड़ना । आकाश पुष्प ॥ १५ ॥

ऐसे है यह रूख । सत्य नहीं है देख ।
रहा क्या है जो निःशेष । करना उसे ॥ १६ ॥

हमने कहा जो इसका प्रकार । करते समय मूलका विस्तार ।
वंध्या संतति खेलती घरभर । वैसे ही है यह ॥ १७ ॥

होते ही जब जागृत । क्या रही स्वप्नकी बात ।
वैसे ही है वह पार्थ । पोला वृक्ष ॥ १८ ॥

अजी ! जैसे अब मैंने कहा था । इसका दृढ मूल यदि होता ।
तथा वैसा ही यदि यह होता । वास्तविक वृक्ष ॥ १९ ॥

तथा किस मायका संतान । कर सकते हैं उन्मूलन ।
अजी ! फूंकनेसे क्या गगन । उड़जायेगा ॥ २२० ॥

इसीलिये यहां धनंजया । यहां जिसका बखान किया ।
जैसे कूर्मिके घृतसे किया । आथित्य राजाका ॥ २१ ॥

अजी ! मृगजलका सरोहर । दूरसे ही दीखता सुन्दर ।
होता क्या मृग-जल सींचकर । फलोंका बाग ॥ २२ ॥

मूल अज्ञान ही अस्तित्व हीन । उसका कार्य हो कैसे महान ।
तब संसार-वृक्षकी अर्जुन । कथा कैसी ॥ २३ ॥

इसका नहीं है अंत । यह कहना भी पार्थ ।
यह है यहां यथार्थ । एक रूपसे ॥ २४ ॥

जब तक नहीं जगता । निद्राका अंत नहीं होता ।
तब तक नहीं प्रकाशता । अंत न हो रातका ॥ २५ ॥

इसी प्रकार जान तू पार्थ । विवेक उठाता माथ ।
तब रहता अश्वत्थ । भव रूप ॥ २६ ॥

जब तक वायु शांत । रहता नहीं निश्चित ।
तब तक है अनंत । कहाता तरंग ॥ २७ ॥

जैसे होता सूर्यका अस्त । मृग-जल भास समाप्त ।
या बुझती है दीप-ज्योत । मिटता प्रकाश ॥ २८ ॥

वैसे मूल अविद्याको निगलता । ज्ञान जब है वह प्रकट होता ।
तभी संसार-वृक्षका अंत होता । अन्यथा नहीं ॥ २९ ॥

अनादि है इसका अर्थ । केवल शाब्दिक नहीं पार्थ ।
उपरोक्त दृष्टिसे यथार्थ । जानना यहां ॥ ३० ॥

संसार-वृक्षका नहीं । स्वरूपका पता कहीं ।
तब आरंभ भी कहीं । होगा कैसे ॥ ३१ ॥

होता जो जहांसे उत्पन्न । वहां उसका आदि जान ।
नहीं जिसका जन्म-स्थान । कहां मूल ॥ ३२ ॥

अजी ! जिसका जन्म है नहीं । अस्तित्वका कहीं पता नहीं ।
तभी यह अनित्यत्वसे ही । है अनादि ॥ ३३ ॥

अजी ! जो है बांजिनीका पुत्र । उसका कहां है जन्म-पत्र ।
नभमें नीली माटी सर्वत्र । कहना कैसे ॥ ३४ ॥

अकाश-कुसुमका अर्जुन । डंटल तोडेगा कहो कौन ।
तभी यह भवद्रुम जान । कहना अनादि ॥ ३५ ॥

जैसे घटका अनास्तित्व । विना हा आस्तत्व ।
जैसे जान तू अनादित्व । इस वृक्षका ॥ ३६ ॥

अर्जुन देख तू यही । इसका आद्यंत नहीं ।
मध्यका भास जो वही । मात्र है भास ॥ ३७ ॥

ब्रह्म-गिरिसे निकलता । तथा समुद्रसे न मिलता ।
किंतु मध्यमें है भास होता । मृगांबुका जैसा ॥ ३८ ॥

अजी ! आद्यंतकी नहीं बात । तथा कहो नहीं होता पार्थ ।
किंतु अनस्तित्वसे प्रतीत । होते है यह ॥ ३९ ॥

जैसे अनेक रंगोंसे मुक्त । इंद्र-धनुष होता दर्शित ।
वैसे होता है यह प्रतीत । अज्ञानीको ॥ २४० ॥

स्थिति कालमें यह फंसाता । ज्ञानीकी आंखोंमें भरता ।
कफनी पहन कर आता । बहुरूपी जैसे ॥ ४१ ॥

नहीं होते हुए अर्जुन । नीलिमा दिखाता गगन ।
वह भी क्षणभर मान । वैसे ही ॥ ४२ ॥

स्वप्नके वस्तु अनसक्त । यदि मान लिये वे सत्त ।
वैसे आभास यहां पार्थ । मिलता क्षणिक ॥ ४३ ॥

देखनेमें दीखता है सुंदर । पकडने जाता जब वानर ।
नहीं मिलता जैसे धनुर्धर । जलका बिंब ॥ ४४ ॥

तरंग-भंग होता न्यून । विद्युत्गति अल्प अर्जुन ।
इससे तीव्र-गति जान । इसके भासकी ॥ ४५ ॥

मारुत जैसे ग्रीष्मांतका । न जानते आगे पीछेका ।
इसी भांति इस वृक्षका । नहीं स्थैर्य ॥ ४६ ॥

नहीं इसका सृष्टि स्थिति लय । वैसे ही रूप नहीं घनंजय ।
तब इसका उन्मूलन कार्य । कठिन कैसे ॥ ४७ ॥

आत्म-ज्ञानका ले करवाल—

अपना ही अज्ञानका बल । लेके हुवा यह दृढ-मूल ।
आत्म-ज्ञानका ले करवाल । तोडना इसे ॥ ४८ ॥

ज्ञान छोड करके एक । करनेसे उपाय देख ।
उलझेगा तू अधिक । इसी वृक्षमें ॥ ४९ ॥

फिर कितने शाखसे शाखको । उछलेगा अध और ऊर्ध्वको ।
तभी काट तू अज्ञान मूलको । सम्यक् ज्ञानसे ॥ २५० ॥

वैसे ही डोरका विषधर । मारने किया लाठियोंका ढेर ।
उससे होगा केवल भार । व्यर्थका जो ॥ ५१ ॥

तैरने गंगा मृग–जलकी । दौड-धूप की नांव लानेकी ।
औ' लगाई नालेमें डुबकी । जो था यथार्थ ॥ ५२ ॥

अस्तित्व हीन जो संसार । नाशने किये श्रम घोर ।
तथा उसीमें धनुर्धर । गया आप ॥ ५३ ॥

जैसे नाशने स्वप्नका भय । जगना उपाय धनंजय ।
अज्ञान मूलका है उपाय । ज्ञान खड्ग ॥ ५४ ॥

लीलासे यदि उसको चलाना । तब वैराग्यका नित्य-नूतन ।
करना अभंग बल-साधना । बुद्धिको पार्थ ॥ ५५ ॥

होता वैराग्यका उत्थान । तब त्रिवर्ग है जान ।
मानो श्वानका वमन । लगता वह ॥ ५६ ॥

यहां तक है अर्जुन । वस्तु-जातमें संपूर्ण ।
अरुचि उभार मान । वैराग्यका हो ॥ ५७ ॥

फिर देहाहंताका म्यान । उतार करके तत्क्षण ।
प्रत्यग्बुद्धि करमें जान । धरना वह ॥ ५८ ॥

फिर वह विवेक सानपे धरना । 'ब्रह्म हूं' यह बोध तीव्र करना ।
फिर उसी एक बोधसे है घिसना । पूर्ण रूपसे ॥ ५९ ॥

फिर निश्चयका मुष्टि-बल । देखना एक दो बार तौल ।
तब उसे धरना निश्चल । मनन तक ॥ २६० ॥

अपनेसे जब हथियार । निज-ध्याससे एक होकर ।
न रहेगा दौडने दूसरा । अपनेसे आगे ॥ ६१ ॥

आत्म-ज्ञानकी जो तलवार । अद्वयानुभव फैलाकर ।
न रहेगा भव-तरुवर । कहीं भी कभी ॥ ६२ ॥

शरदागमनका समीर । करता जैसे स्वच्छ अंबर ।
या उदित हो रवि अंधार । निगलता जैसे ॥ ६३ ॥

अथवा होते ही जागृत । होता जैसे स्वप्नका अंत ।
स्वबोध धारसे अश्वत्थ । कहीं रहता नहीं ॥ ६४ ॥

तब ऊर्ध्व या अधका मूल । नीचेका भी तब शाखा-जाल ।
न दीखता जैसे मृगजल । चांदनीमें वैसे ॥ ६५ ॥

इस प्रकार तू धनुधर । आत्म-ज्ञानकी ले तलवार ।
तोडकर यह तरुवर । ऊर्ध्वमूलका ॥ ६६ ॥

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥

फिर अपनेमें अपना रूप आप देखना—

फिर "इदं"का संबंध नहीं होता । "अहंत्व"के बिन जो प्रसिद्ध होता ।
यह अपना ही रूप है देखता । आप ही आप ॥ ६७ ॥

ढूंढे वही जो पद है महान
पीछे जहांसे मुडना न होता ।
विलीन होना उस रूपमें ही
प्रवृत्ति निकली जहां अनादि ॥ ४ ॥

किंतु दर्पणका ले आधार । तथा एकका दूसरा कर।
रूप देखते हैं जो गंवार । वैसा नहीं यह ॥ ६८ ॥

यह ऐसे देखना है अर्जुन । कूआ खोदनेसे पूर्व झरना।
रहता है आप भरा हो पूर्ण । अपनेमें जैसे ॥ ६९ ॥

अथवा सूखने पर अंभ । निज-बिंबमें ही प्रतिबिंब ।
अथवा मिल जाता है नभ । घटाभावमें ॥ २७० ॥

अग्निका इंधनांश समाप्त होत । अग्नि जैसेमूल रूपमें लौटता ।
वैसे ही अपनेको देखना होता । आप ही स्वयं ॥ ७१ ॥

जिव्हाको अपना ही रस चखना । दृष्टिको अपना ही रूप देखना।
वैसे उसका निरीक्षण करना । अपनेको ही ॥ ७२ ॥

या प्रकाशसे प्रकाशका मिलना । गगनमें गगनका है चढ़ना ।
अथवा पानीसे पानीकी भरना । अपनी गोद ॥ ७३ ॥

अपनेको आप लक्षित । करता है जब अद्वैत ।
वह ऐसे होता है पार्थ । कहता हूं मैं ॥ ७४ ॥

न देखते ही जो देखना । कुछ न जानते ही जानना ।
महापद जो है अर्जुन । आदि पुरुषका ॥ ७५ ॥

वहां भी उपाधिका ले आधार । होती वर्णनमें श्रुति तैयार ।
नाम रूपका गडबड फिर । करती है व्यर्थकी ॥ ७६ ॥

संसार स्वर्गसे जो उकता कर । मुमुक्षुके ज्ञान योगका आधार ।
जहां जाने निकले पांडुकुमार । प्रतिज्ञा-पूर्वक ॥ ७७ ॥

करते हैं संसारके आगे दौड़ । वे वीत-राग पुरुष कर होड ।
पीछे डालते ब्रह्म-लोकको गाड । अतिक्रमण कर ॥ ७८ ॥

अहंकार आदि जो भाव । तज कर अपना सर्व ।
आज्ञा-पत्र लेते पांडव । मूल गृहका ॥ ७९ ॥

आत्म विषयमें जो अज्ञान । लाया बड़ा संसारका ज्ञान ।
न था जो उसने दिया स्थान । मैं तू पनको ॥ २८० ॥

जहांसे इतना धनुर्धर । होता विश्व-क्रमका विस्तार ।
व्यर्थ अभिष्ट जिस प्रकार । होता निर्दैवीका ॥ ८१ ॥

कैसे वह रूप देखना । अपनेमें आप अपना ।
हिमसे है हिम जमना । हिम-रूपमें ॥ ८२ ॥

और एक जो उसका । लक्षण है जाननेका ।
उससे पुनर्जन्मका । होता है अंत ॥ ८३ ॥

किंतु उससे मिलते जैसे । भरकर सर्वत्र ज्ञानसे ।
महा-प्रलयमें नीर जैसे । भरा रहता है ॥ ८४ ॥

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ ५ ॥

यही प्राज्ञ इस परमात्म-पदको प्राप्त करते हैं—

जिस पुरुषका मन । छोड गये मोह मान ।
वर्षातमें जैसे घन । आकाशको ॥ ८५ ॥

जो है अकिंचन निष्ठुर । उससे ऊबता है घर ।
वैसे ही उसको विकार । तज जाते हैं ॥ ८६ ॥

उखडता फला हुवा केल । वैसे आत्म लाभसे प्रबल ।
क्रिया कलाप होते उन्मूल । अपने आप ॥ ८७ ॥

वृक्ष है जब जलता । पक्षी-गण उड जाता ।
वैसे उसको तजता । विकल्प सारा ॥ ८८ ॥

जो मान मोहासह संग-दोष
उखाड निष्काम अध्यात्म निष्ठ ।
निर्द्वंद्व जो हो सुख दुःख मुक्त
वे प्राज्ञ पाते वह नित्य धाम ॥ ५ ॥

जैसे सकल दोष त्रण । अंकुरती पृथ्वी अर्जुन ।
उस भेद बुद्धिका भान । नहीं होता उसे ॥ ८९ ॥

जब सूर्यका उदय होता । रातका अस्तित्व न रहता ।
वैसे देहाहंकार भागता । अविद्या सह ॥ २९० ॥

जैसे जीवको आयुष्य हीन । छोडता शरीर उसी क्षण ।
वैसे तजता द्वैत अर्जुन । उस पुरुषको ॥ ९१ ॥

पारसको लोहेका अकाल होता । रविसे कभी अंधार न मिलता ।
द्वैत-बुद्धिका दर्शन नहीं होता । उसको कभी ॥ ९२ ॥

अजी ! सुख दुःखका आकार । द्वंद्व होते देहमें गोचर ।
उसके सन्मुख धनुर्धर । नहीं होते कभी ॥ ९३ ॥

स्वप्नका राज्य या मरण । हर्ष या शोकका कारण ।
न होता जागृतिमें जान । उसी भांति ॥ ९४ ॥

वैसे सुख दुःख रूप । द्वंद्व जो पुण्य औ' पाप ।
न घेरते उसे साप । गरुडको जैसे ॥ ९५ ॥

तथा अनात्म-वर्ग नीर । छोड आत्म-रसका क्षीर ।
करता है जो स-विचार । राज हंस-सा ॥ ९६ ॥

वर्षा कर जैसे पृथ्वीपर । अपने ही रसको भास्कर ।
खींचता रश्मियां फैलाकर । अपने ही बिंबमें ॥ ९७ ॥

आत्म-भ्रांतिके लिये ही वैसे । बिखुरे वस्तु सभी ओरसे ।
एकत्र किये ज्ञान दृष्टिसे । अखंड जो ॥ ९८ ॥

तथा निर्णयमें आत्माका । विवेक डूबता उनका ।
प्रवाह डूबता गंगाका । सिंधुमें जैसे ॥ ९९ ॥

या होनेसे आप संपूर्ण । न रहा आशाका कारण ।
न करता इच्छा गगन । परे जानेकी ॥ ३०० ॥

जैसे है अग्निका डोंगर । न लेता बीज अंकुर ।
उसके मनमें विकार । न आते वैसे ॥ १ ॥

निकलते ही मंदराचल । हुवा क्षीर-सागर निश्चल ।
उसमें कामोर्मियोंका उबाल । नहीं होता ॥ २ ॥

षोडश कलायुत चंद्र-पूर्ण । न दीखे किसी ओरसे अपूर्ण ।
वैसे अपेक्षाका न्यून उत्पन्न । न होता उसमें ॥ ३ ॥

निरूपका कैसे करूं वर्णन । आंधीमें नहीं टिकता रजकण ।
वैसे नहीं आते विषय अर्जुन । उसके सम्मुख ॥ ४ ॥

एवं जिन्होंने किये ऐसे । यज्ञ ज्ञानाख्य हुताशसे ।
वहां वे मिलते हैं वैसे । मानो स्वर्णमें स्वर्ण ॥ ५ ॥

मेरा वह परम पद—

वहां कहा तो कहां । पूछेगा यदि यहां ।
न पहुंचता जहां । नाशका नाम ॥ ६ ॥

दृश्यत्वसे जो देखा जाता । या ज्ञेयत्वसे जाना जाता ।
अमुक ऐसे कहा जाता । ऐसा नहीं जो ॥ ७ ॥

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥

किंतु जो दीपके प्रकाशसे । या चन्द्राग्निके प्रकाशनेसे ।
अधिक क्या कहूं मैं इससे । न प्रकाशता सूर्यसे भी ॥ ८ ॥

ऐसे प्रकाशसे जो दीखता । उससे वह नहीं दीखता ।
जिससे विश्व दर्शित होता । उससे वह लोप ॥ ९ ॥

खोता जब शुक्तापन । भासता रजतपन ।
या लोपसे सर्पपन । दीखता डोरा ॥ ३१० ॥

श्रेष्ठ जो चंद्र-सूर्यादिक । बडे हैं प्रकाश दायक ।
उसके अंधारमें देख । प्रकाशते हैं ॥ ११ ॥

प्रकाशता नहीं सूर्य उसको अग्नि चंद्र भी ।
न लौटता वहां जाके मेरा उत्तम धाम जो ॥ ६ ॥

तेजकी वह महा-रास । सर्व-भूतात्मक निवास ।
चंद्र-सूर्यका भी मानस । उजलाता है ॥ १२ ॥

तभी चंद्र सूर्य हैं स्फुलिंग । उस प्रकाशके हैं अंग ।
सभी तेज हैं उसके भाग । जो है तेजस्वी ॥ १३ ॥

तथा होते ही जिसका उदय । लोपता विश्व सह चंद्र-सूर्य ।
जैसे होते ही सूर्यका उदय । लोपते चंद्र तारा ॥ १४ ॥

अथवा आते ही जागृति काल । मिटता है स्वप्न-राज्य विशाल ।
तथा नहीं रहता मृग-जल । सूर्यास्तमें जैसे ॥ १५ ॥

उस तत्वके पास । नहीं कोई आभास ।
परम धाम खास । मेरा वह ॥ १६ ॥

जो जो कोई वहां गये । लौट कर नहीं आये ।
सागरमें मिल गये । स्रोत जैसे ॥ १७ ॥

अथवा नमकका कुंजर । डूब गया लवण सागर ।
कभी न आयेगा लौटकर । उसी भांति ॥ १८ ॥

या पहुंची जो अंतराल । नहीं लौटती अग्नि-ज्वाल ।
तप्त लोहेपे पडा जल । न लौटता जैसे ॥ १९ ॥

वैसे मुझसे हुवा मिलन । ज्ञानाग्निमें शुध्द जो अर्जुन ।
नहीं होगा पुनरागमन । उसका कभी ॥ ३२० ॥

ब्रह्म लीन हो कर जो नहीं लौटते वे मूलतः अभिन्न है या भिन्न ?—

कहता प्रज्ञा-भूमि-पति पार्थ । जी जी प्रसाद किंतु एक बात ।
विनय करता हूं देना चित्त । कृपा पूर्वक ॥ २१ ॥

प्रभुसे जो स्वयं एक होते । तथा लौटकर नहीं आते ।
वे प्रभुसे हैं अभिन्न होते । अथवा भिन्न ॥ २२ ॥

यदि भिन्न ही है अनादि सिध्द । तो नहीं आते यह असंबध्द ।
सुमनमें जाकर ही षट्पद । सुमन होगा कैसे ? ॥ २३ ॥

अजी ! लक्ष्यसे जो भिन्न ऐसे । बाण लक्ष्य स्पर्श कर जैसे ।
लौटकर आते ही हैं जैसे । आएंगे ही ॥ २४ ॥

या वे तू ही है स्वभावसे । किसको मिलना किससे ।
अपनेको आप शस्त्रोंसे । कैसे चितेरें ॥ २५ ॥

यदि हैं तुझसे अभिन्न जीव । तेरा ही संयोग वियोग देव ।
नहीं कहा जाता है अवयव । शरीरसे जैसे ॥ २६ ॥

तथा जो सदा भिन्न हैं तुझसे । नहीं मिल सकते कभी वैसे ।
फिर लौटते हैं या नहीं वहांसे । यह बात है व्यर्थ ॥ २७ ॥

तब तेरा रूप देख कर । नहीं आते हैं जो लौट कर ।
वह कौन कह कृपा कर । विश्वतोमुख देव ॥ २८ ॥

वह संदेह जो अर्जुनका । सुन शिरोमणि सर्वज्ञका ।
तुष्ट हुवा अपने शिष्यका । बोध देख कर ॥ २९ ॥

कहते हैं तब महामते । मुझे पाकर जो न लौटते ।
उनमें दोनों भांतिके होते । भिन्न औ' अभिन्न ॥ ३० ॥

जीव मुझसे अभिन्न भिन्न हैं—

देखा तो यदि गहराईसे । मैं हूं वे समरसैक्यसे ।
तथा देखे तो ऐसे या वैसे । मुझसे भिन्न ॥ ३१ ॥

जैसे पानीसे भिन्न सकल । दीखते हैं उठते कल्लोल ।
नहीं तो तरंग केवल । पानी ही पानी ॥ ३२ ॥

अथवा स्वर्णसे हैं भिन्न । दीखते हैं सब भूषण ।
किंतु वह स्वर्ण ही स्वर्ण । संपूर्ण रूपसे ॥ ३३ ॥

वैसे ही ज्ञानकी दृष्टिसे । अभिन्न सदा हैं मुझसे ।
भिन्नता दीखती जिससे । वह है अज्ञान ॥ ३४ ॥

देखें यदि आत्म-दृष्टिसे । मुझे छोड़ दूसरा कैसे ।
भिन्नाभिन्न व्यवहारसे । जानेगा जो ॥ ३५ ॥

सारा ही आकाश निगलकर । व्याप्त होता ब्रह्मांड भास्कर ।
तब कहां प्रति-बिंब और । कहां रश्मि-जाल ॥ ३६ ॥

अथवा कल्पांतमें भरा नीर । उसमें कैसे ओघ धनुर्धर ।
कैसे होंगे मुझमें अविकार । अंशादि तब ॥ ३७ ॥

किंतु जैसे ओघके कारण । ऋजु नीर दीखे वक्र बन ।
रविको भिन्न पन अर्जुन । आता नीरमें ॥ ३८ ॥

गगन वर्तुल या चौकोर । कैसे मिलेगा पांडुकुमार ।
घट मटसे घिर आकार । दीखेगा वैसे ॥ ३९ ॥

अजी ! निद्राका ले आधार । स्वप्नमें राजा बनकर ।
अकेलेसे ही जग भर । होता राज्य ॥ ३४० ॥

या मिलनेसे कस हीन । शुध्द स्वर्ण जैसे अर्जुन ।
कसमें उतरता निम्न । वैसे मैं स्वमायामें ॥ ४१ ॥

उससे फैलता है अज्ञान । कोऽहं भावका उठता प्रश्न ।
विचारके कहता मन । मैं देह हूं ऐसे ॥ ४२ ॥

ममैकांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥

शरीर है जितना आत्मज्ञान भी है अपना—

ऐसे शरीर है जितना । आत्म-ज्ञान भी आपना ।
जिससे है अनुभवना । मेरा अल्पांश ॥ ४३ ॥

वायु संयोगसे है सागर । उमडता ले तरंगाकार ।
वह समुद्रांश धनुर्धर । दीखता अल्प ॥ ४४ ॥

वैसे जडको चेतना देता । देहहंता प्रकट करता ।
मैं जीव हूं ऐसा भास होता । जीव लोकका ॥ ४५ ॥

जगमें अंश मेरा ही हुआ जीव सनातन ।
खींचता है प्रकृतीसे मन औ' पांच इंद्रियां ॥ ७ ॥